Vantage: Journal of Thematic Analysis **ISSN: 2582-7391**
A Multidisciplinary Publication of Centre for Research,
Maitreyi College, University of Delhi
April 2022, Volume 3 Issue 1

Special Article

वेदों में कृषि-विज्ञान: अथर्ववेद-संहिता के विशेष सन्दर्भ में

शशि तिवारी*

पूर्व सह-आचार्य, मैत्रेयी महाविद्यालय, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली एवं

अध्यक्ष, वाईडर एसोसिएशन फार वैदिक स्टडीज, (वेव्स),भारत

*Correspondence: stiwari2006@gmail.com

ABSTRACT

Some modern scholars opine that ancient Indian people did not attach much importance to the economic progress in life. This view seems to be incorrect when we go through the several references of Vedic literature. According to the Vedic approach, *Artha* (money) is as important as any other thing in life. In Vedas, there are many prayers for the prosperity and welfare of the society. The agriculture, animal husbandry, trade and other economic resources extant in the country at that time were properly developed for economic growth. This paper discusses development of agriculture including cultivation of crops. In Vedas, sufficient literary evidences are mentioned for availability of irrigation systems, use of manure, clearing of forests, ploughing of fields, and sowing of seeds. Earth was identified as forest and field. Farmer was known as the Lord or controller of plough (*hala*). By the end of Rigvedic period all the agricultural processes were known to Aryans. *Siira, laangala, phala, ashtraa, vaaha* etc. terms are used in the Atharvaveda (AV) for the related equipments of agriculture. The AV mentions ploughing of fields by six or twelve oxen. It states that canals were dug for irrigation besides natural resources such as rivers, wells etc. In times of famines, people suffered a lot. Two crops were cultivated every year. In the AV, there is mention of barley (*yava*), rice (*vriihi),* sesame, a type of pulse (*maasha),* sugarcane *(iikshu)* and some wild varieties of rice. The protection of crops from insects, and certain types of birds is considered in some hymns. It appears from this study that the Vedic agriculture was not much different from the current traditional agriculture practices seen in rural areas of India.

Keywords: Agriculture, irrigation, manure, *yava, briihi, phaala, hala, krishaka, krishi*

आर्थिक विकास समाज की ऐहिक उन्नति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। भारतीय संस्कृति में मानव-जीवन के लक्ष्य के रूप में जिस पुरुषार्थचतुष्टय का प्रतिपादन किया गया है, उसमें भी 'अर्थ' का द्वितीय स्थान है। कृषि, पशुपालन, व्यवसाय, उद्योग और वाणिज्य आदि द्वारा भौतिक उपलब्धियों के निमित्त द्रव्योपार्जन करना ही 'अर्थ' का अभिप्राय है। वैदिक आर्य आर्थिक विकास की उपयोगिता से परिचित थे, एतदर्थ उन्होंने उसके सभी प्रमुख अंगों को अपनाया भी था। वैदिक ग्रन्थों में वेदकालीन आर्थिक-जीवन से सम्बन्ध कई तथ्यों के संकेत प्राप्त हैं। अथर्ववेद के आधार पर वैदिक कृषि-विज्ञान का विश्लेषण उसके कई पक्षों को प्रकाशित करता है।

ऋग्वैदिक आर्यों की संस्कृति प्रधानतया पशुपालों और ग्रामों की संस्कृति थी। निश्चय ही वे कृषि जानते थे। परन्तु कृषि उनकी जीविका का मुख्य नहीं, अपितु गौणसाधन की प्रतीत होता है। वस्तुतः ऋग्वैदिक आर्यों की कृषि अविकसित अवस्था में थी। वे मुख्यतया पशुपालक समुदायों में रहते थे। इस सम्बन्ध में रामशरण शर्मा का विश्लेषण उल्लेखनीय है, 'ऋग्वैदिक लोग आर्थिक दृष्टि से मुख्यतः पशुपालन की अवस्था में थे। उन्हें लोहे का ज्ञान नहीं था। इसलिये हल से जोत-गोड़कर की जाने वाली खेती वे नहीं करते थे। कृषि की अपेक्षा पशुपालन जीविका का अधिक महत्त्वपूर्ण साधन था तथा मवेशी और बैल उनकी सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति थे।[1] ऋक्संहिता में कृषि की प्रधानता का एक दूसरा कारण प्रतीत होता है तत्कालीन आर्यों में प्रादेशिक भावना का अभाव। अथर्ववेदसंहिता में स्थिर एवं स्थायी राज्यों की स्पष्ट कामनाओं और भूमि के गौरवगान से व्यक्त है[2] कि अथर्ववैदिक आर्यों में स्थानीय भावना का पर्याप्त विकास हो गया था और वे आर्थिक विकास में पृथ्वी के साधन-स्त्रोतों की उपयोगिता से सम्यक्तया परिचित थे। इसलिये एक स्थान पर स्थायी रूप से निवास करने के कारण उन्होंने खेती के क्षेत्र में भी पहले से अधिक उन्नति की थी। उनके आर्थिक साधनों में कृषि का प्रथम स्थान था। अथर्ववेदसंहिता में सामान्य रूप से अन्न-प्राप्ति के उद्देश्य से की गयी अनेकानेक प्रार्थनायें स्पष्ट करती हैं कि वैदिक समाज में जनसाधारण कृषि से साध्य सम्पत्ति के प्रति सतत प्रयत्नशील था।

कृषि का महत्त्व

कृषि भूमि से अन्न-प्राप्ति एक सरल उपाय है। वैदिक संहिताओं में इसे परम पुनीत और महत्त्वपूर्ण व्यवसाय माना गया है। ऋग्वेदीय अक्षसूक्त में द्यूतकर को कृषिकर्म करने का आदेश देकर स्वावलम्बन के सिद्धान्त का उपदेश दिया गया है।[3] अथर्ववेदसंहिता में अन्न-प्राप्ति के साधनरूप में कृषि के माहात्म्य को स्वीकार करते हुए उसे मनुष्य के जीवन-निर्वाह का मुख्य आधार माना गया है।[4] मनुष्य का पराक्रम और तेज अन्न पर आश्रित है, अत एव द्वेषकर्ता शत्रुओं को पराभूत करने में कृषि ही प्रधान हेतु कहा गया है।[5] यही नहीं, समाज में सुख और समृद्धि को कृषि के द्वारा ही सम्भव बताया गया है।[6] सुभगा सीता से प्रार्थना है कि वह हमारे लिये सुमना और सुफला हो - 'यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः'।[7] कृषि की महत्ता इस तथ्य से भी अभिव्यक्त होती है कि राज्य में कृषि की समस्त व्यवस्था का दायित्त्व राजा का माना गया था। तभी कहा गया है कि 'राजा हमारी कृषि का विस्तार करें'।[8] राजा लोक-कल्याण के लिये सिंहासन पर बैठाया जाता था, अतः कृषि की उपयोगिता से परिचित और उसे ही सर्वाधिक महत्त्व देने वाले समाज के नेता से भी समान कार्य में सहयोग देने की आशा स्वाभाविक रूप से की जाती थी। कृषिकर्म श्रमसाध्य होने के साथ-साथ देवाश्रित और अनिश्चित फल वाला भी है; अथर्वसंहिता के मन्त्रों में कृषि की समृद्धि-विषयक अनेक प्रार्थनाओं का प्रधानतः यही औचित्य है।

कृषि-विद्या का आविष्कार

ऋक्संहिता में कृषिकला का सम्बन्ध अश्विन् देवताओं से बताया गया है - अश्विन् देवताओं ने मनु को बोने की बीज कला सिखायी तथा आर्यों को हल (वृक)[9] की सहायता से खेती करना सिखाया।[10] अथर्ववेदसंहिता में वर्णन है कि पृथी वैन्य ने पृथिवी से कृषि तथा शस्य को दुहा।[11] अतः इसके अनुसार वेन के पुत्र पृथु ने ही सर्वप्रथम मनुष्यों के लिये कृषि का मार्ग प्रशस्त किया था। पुराणों में भी पृथी या पृथु का विस्तृत वर्णन प्राप्त है।[12] जिन्होंने पृथिवी का विस्तार किया था और पथरीली भूमि को कृषि-योग्य बनाया था। सम्भवतः भूमि के 'पृथिवी'[13] नाम का यही आधार है। अन्यत्र अथर्वसंहिता के एक मन्त्र में सामान्य रूप से देवताओं को अन्नोत्पत्ति का श्रेय देते हुए कहा गया है कि 'मधुर रस से भरे हुए इस यवधान्य को सरस्वती नदी के किनारे रहने वाले मानवों में सर्वप्रथम देवताओं ने उत्पन्न किया'।[14]

कृषि का आधार 'भूमि'

ऋक्संहिता के अनुसार वैदिक काल में भूमि क्षेत्र और अरण्य में विभाजित थी। सम्भवतया क्षेत्र खेती के लिये और अरण्य पशुओं को चराने के लिये प्रयोग में आते थे।[15] अथर्वसंहिता में कृषि के आधार रूप भूमि और उसके विभाजन के विषय में कतिपय तथ्य उपलब्ध होते हैं। कृषि की उत्पत्ति के लिये भूमि की चर्चा[16] के अतिरिक्त अथर्ववेदीय भूमिसूक्त में भूमि के स्वरूप का विशद वर्णन द्रष्टव्य है। उस पर भूरी, काली, लाल, और विविध रंगों वाली मिट्टी है, वह ध्रुव, विस्तृत और इन्द्र द्वारा रक्षित है।[17] भूमि का 'कृष्णा' विश्वेषण प्रकारान्तर से कृषिकर्म के लिये उसकी उपयुक्तता का वाचक भी माना जा सकता है।[18] सूक्त में वर्णन है कि उस पर ऊँचे, विशाल और समतल बहुत से भाग हैं।[19] इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋग्वेदकाल के समान[20] ही अथर्ववैदिक काल में भी भूमि क्षेत्रों में विभाजित रही होगी। भूमि को शिला, पर्वत और धूलि से युक्त कहा गया है।[21] उसे विश्वम्भरा, वसुधानी, हिरण्यवक्षा इत्यादि विशेषणों से प्रशंसित किया गया है, [22] क्योंकि वह विविध प्रकार की धन, मणि, हिरण्य आदि की निधि को धारण करती है।[23] पृथिवी ही समस्त ओषधियों की माता है।[24] यह अनेक शक्तिशाली ओषधियों को धारण करती है।[25] उस पर ही व्रीहि, यव इत्यादि अन्न बहुतायत से उत्पन्न होते हैं। वर्षा द्वारा सिंचित होने के कारण वह 'पर्जन्यपत्नी' है।[26] मन्त्रों में भूमि कृषि के अतिरिक्त वन, वनस्पति, पर्वत, खान, नदी आदि आर्थिक विकास के विविध साधनों की स्रोत होने से ही अधिक स्तुत्य मानी गयी है। भूमि ही सिंचाई, पेयजल और पशुलभ्य सम्पत्ति का आधार है।[27] इसलिये पृथिवी को जीवनप्रदा (जीरदानुः) कहा गया है, जो समृद्धि प्रदान करने के लिये वर्षा से अप्यायित हुआ करती है।[28] कृषियोग्य भूमि 'उर्वरा' है जो बीज को शीघ्रता से बढ़ाती है।[29] जो (बीज) बोया जाये, वह शीघ्र उगे, ऐसी प्रार्थना मातृभूमि से की गयी है।[30]

कृषिकर्म करने वाला कृषक

कृषिकर्म पूर्णतया कर्षक पर आश्रित था, जो कुछ उपकरणों की सहायता से अन्नोत्पादन के उद्देश्य के साथ इस कर्म में प्रवृत्त होता था। ऋक्संहिता में कृषक को 'कीनाश' कहा गया है।[31] सायण ने इसका अर्थ 'बलीवर्दरक्षक' किया है। अन्यत्र किसानों को 'कृषिवल' भी कहा गया है।[32] अथर्वसंहिता में कृषि करने वाले नरों के सुख की कामना की गयी है।[33] उन्हें 'सीरपति' और 'कीनाश' नामों से अभिहित किया गया है; देवताओं में इन्द्र को

'सीरपति' और मरुद्गण को 'कीनाश' बताया गया है।[34] अतः इससे इन पदों द्वारा अभिलक्षित दो भिन्न जनों का संकेत मिलता है। सायण ने इन नामों से क्रमशः हल के अधिष्ठाता और कर्षक का ग्रहण किया है। ह्विटने ने 'सीरपति' से हल से पड़ने वाली रेखा का स्वामी और 'कीनाश' से हल चलाने वाले का अभिप्राय लिया है।[35] कृषिकार के लिये प्रयुक्त इन दोनों विशेषणों से उसके कृतित्व के दो भिन्न पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। सम्भव है, कभी कृषि में इन दो भिन्न कार्यों के लिये पृथक्-पृथक् व्यक्ति ही प्रवृत्त होते हों।

वर्णन है कि परिश्रम से सस्वेद कर्षक और वृषभ (अनड्वान्) मीठा पेय (ह्विटने) या अन्न (सायण) प्राप्त करने के लिये साथ-साथ चलते हैं।[36] कृषकों को आदेश दिया गया है कि वे मृदुभाव से बैलों के पीछे चलें।[37] शतक्रतु इन्द्र को 'सीरपति' कहने से समाज में कर्षक का महत्त्व प्रकट होता है। इसीप्रकार 'सीर' को कर्षणार्थ नियोजित करने वाले को 'कवि' और 'युग' को बलीवर्दों के स्कन्धों पर रखने वाले को 'धीर' कहना[38] कृषकों की महत्ता का वाचक है। अन्नलाभ की इच्छा से कृषिकर्म करने वाले (कार्षीवणाः), किन्तु विशेषज्ञान से शून्य जन यम-सम्बन्धी क्रूर-कर्म (याम्) को करने वाले कहे गये हैं;[39] इससे कृषिकर्म में प्रवृत्त कृषक के लिये विवेक और ज्ञान की विशेष आवश्यकता का संकेत ग्राह्य है।

कृषि के उपयोगी उपकरण

भारत प्रारम्भ से ही कृषिप्रधान देश है। द्रष्टव्य है कि आज भी साधारण कृषक कृषि के लिये जिन उपकरणों का प्रयोग करता है, प्रायः वही वैदिक काल में भी प्रयुक्त होते थे। ऋक्संहिता में क्षेत्रपति के स्तवन में वामदेव ऋषि ने कृषि में प्रयुक्त वस्तुओं और पशु आदि का उल्लेख किया है - जैसे, लांगल (हल), वाह (बैल), अष्ट्रा (प्रतोद), फाल (भूमिविदारक उपकरण) इत्यादि।[40] अथर्ववेदसंहिता द्वारा खेती के लिये उपयोगी जिन उपकरणों का मुख्यतया ज्ञान होता है, वे इस प्रकार हैं -

(अ) **सीर** - वैदिक संहिताओं में प्रायः हल को सीर (सि+रक्)[41] और लाङ्गल (लङ्ग+कलच्)[42] कहा गया है। कृषकों के पास एक से अधिक सम्भवतया छः तक हल होते थे।[43] मन्त्र में कहा गया है कि विद्वान् मनुष्य हलों

को कर्षणार्थ जोतते हैं और बैलों के कन्धों पर पृथक्-पृथक् जुओं (युगा) को रखते हैं।[44] हल में एक लम्बा बाँस बाँधा जाता था, जिस पर जुआ रखा जाता था, जिसमें रस्सियों (वरत्राः) से बैल का गला बाँधा जाता था।[45] हल को वज्र के समान कठोर (पवीरवत्), कर्षक को चलाने में सुखकर (सुशीमम्) और सायण के अनुसार व्रीह्यादि संपादन द्वारा सोमयाग निष्पादक अथवा सातवलेकर के अनुसार लकड़ी के मूठवाला[46] अथवा ह्विटने के अनुसार चिकनी मूठ से युक्त[47] अर्थ में 'सोमसत्सरु' विशेषण दिये गये हैं, जो सभी उसके स्वरूप के उद्भावक हैं।[48] ऋषि की कामना है कि हल सुख से कृषि करें।[49]

कृषि के युगल देवता के रूप में मन्त्रों में 'शुनासीर' का आवाहन है।[50] इससे हवियों द्वारा सन्तुष्ट होकर व्रीहि-यवादि को सुस्वादु बनाने की प्रार्थना की गयी है।[51] यास्क ने 'शुनः' को वायु और 'सीरः' को आदित्य से समीकृत किया है।[52] सायणाचार्य ने भी इस युग्म देवता को 'वाय्वादित्यौ' का वाचक माना है, किन्तु विकल्प से उन्होंने 'शुनः' को 'सुखकरो देवः' और 'सीरः' को 'लाङ्गलाभिमानी देवः' के अर्थ में भी ग्रहण किया है।[53] निश्चय ही हल आर्यों का पूज्य उपकरण था।

हल चलाने से खेत में मिट्टी खुदने से जो रेखा बन जाती है, उसे 'सीता' (सि+त) कहते थे।[54] आचार्य सायण ने इसे 'लाङ्गल-पद्धति' कहा है।[55] सीता की स्तुति करते हुए एक मन्त्र में कहा गया है कि - 'हे सीते ! हम तुम्हारी वन्दना करते हैं। हे सुभाग्ये ! हमारे अभिमुख हो। हमारे लिये प्रसन्नचित्त हो जाओ और हमारे लिये सुफला हो जाओ'।[56] उससे प्रार्थना है कि वह उपासकों को चारों ओर से जल या दूध से युक्त कर दे।[57]

(आ) **फाल** - हल के अग्रभाग को 'फाल' कहा गया है। सायण ने इसे 'लाङ्गलमुख' बताया है।[58] हल सुखपूर्वक भूमि खोद सकते हैं, जब वे सुन्दर फालों से युक्त हों।[59] हल को 'पवीरवत्' अर्थात् वज्र के समान कठोर कहने से उसके अग्रभाग के कठोर और नुकीले होने का अनुमान किया जा सकता है। यह स्पष्ट नहीं है कि फाल किस वस्तु का बनाया जाता था। बृहस्पति द्वारा फाल की खदिरोत्पन्ना मणि को ओजस् की प्राप्ति के लिये बांधने का उल्लेख भी इस विषय में कोई विशेष प्रकाश नहीं डालता है।[60] यद्यपि यह कहा गया है कि मणि के द्वारा अश्विन् कुमार कृषि की रक्षा करते हैं।[61] अत एव फालमणि का कृषि से सम्बन्ध माना गया है। फाल द्वारा जुती भूमि पर

ही बीज अंकुरित होता है[62] - यह निश्चित मान्यता है। अतः फालस्वरूपतः हल का तीक्ष्ण और कठोर अग्रभाग ही है, जिसे जुताई में अतिशय रूप से आवश्यक उपकरण स्वीकार किया गया है।

ब्लूमफील्ड का मत है कि हल की नोक धातु की बनी होती थी।[63] ह्विटने ने हल को ही नुकीला माना है।[64] सातवलेकर के विचार में हल में लोहे का कठिन फाल लगाया जाता था और पकड़ने के लिये लकड़ी की मूठ।[65] ऋग्वैदिक आर्यों के धातु ज्ञान के सम्बन्ध में राहुल सांकृत्यायन का प्रतीपादन है कि उस समय लोहा अज्ञात था, ताँबे का फाल भी लग सकता था, लेकिन ताँबा अभी महार्घ धातु थी। इसलिये फाल भी लकड़ी का रहा होगा, अपेक्षाकृत कड़ी लकड़ी का।[66] राजक्षत्र मिश्र की सम्भावना है कि अथर्ववैदिक हल की नोक खदिर की लकड़ी की बनती थी।[67] सुनिश्चित प्रमाणों के अभाव में इस विषय में कुछ भी निर्णय कर पाना कठिन है।

(इ) **अष्ट्रा** - 'अष्ट्रा' शब्द का प्रयोग अथर्वसंहिता में केवल एक बार हुआ है; जहाँ कहा गया है कि अष्ट्रा (सायण - 'प्रतोदः') मृदुभाव से बैलों को चलने के लिये प्रेरित करें।[68] इससे प्रतीत होता है कि यह चाबुक है, जिसे हल वाला बैलों को हाँकने के लिये धारण करता था। कौशिक सूत्र में विधान है कि वैश्य अपने हाथों में अष्ट्रा ग्रहण करें।[69]

कृषि में उपयोगी पशु-बैल

कृषि-साधन हल के प्रयोग के लिये अत्यावश्यक पशु 'बैल' को मन्त्रों में 'वाहाः' कहा गया है। यह खेत की जुताई में सहायक होने के अतिरिक्त गाड़ी खींचने में भी उपयोगी था। हल सुख से कृषि करें - इसके लिये सर्वप्रथम हल वहन करने वाले बैलों के सुख की कामना की गयी है।[70] ये अपने स्कन्धों पर हल दण्डों को धारण करते हैं। [71] हल द्वारा जुताई करते समय किसान बैलों के पीछे चलता है।[72] खेती में 'बैल' की अतिशय महत्ता को स्वीकार करने के कारण ही अथर्ववैदिक ऋषि ने 'अनड्वान्' सूक्त में विश्व के धारक परमेश्वर का विशद वर्णन अनड्वान् रूप में किया है, जो विश्व में संकट को वहन करने वाला है।[73]

साधारणतः हल में दो बैल ही जोते जाते थे, किन्तु प्रतीत होता है कि कभी-कभी छः और आठ तक भी बैल जोते जाते थे। एक मन्त्र में वर्णन है कि कृषकों ने इस भैषज्यरूप यव को आठ और छः बैलों की जोड़ी से खेत को जोतकर उपजाया है।[74] तैत्तिरीयसंहिता में बारह तक बैलों को जोतने का उल्लेख है।[75] ऋक्संहिता में बैलों द्वारा जौ के 'खेत' जोतने का वर्णन प्राप्त है।[76]

कृषि के लिये खाद

पशुओं की प्रधानता होने के कारण वैदिक युग में पशुओं से प्राप्त उत्तम खाद ही सहज थी। कदाचित् पशुओं में गाय की विशेष महत्ता का एक कारण 'करीषणीः' (गोबर उत्पन्न करने वाली)[77] होना भी रहा था। उसके गोबर का उपयोग खाद के रूप में किया जाता रहा होगा, तभी उसके गोष्ठ में ही उत्पन्न करने की कामना की गयी है। ह्विटने ने 'करीषणीः' पद को 'खाद में समृद्ध' अर्थ में ही ग्रहण किया है।[78] अन्यत्र दासी द्वारा गो के मूत्र और गोबर को इधर-उधर फेंकने की निन्दा भी उसकी उपयोगिता व्यञ्जित करती है।[79] मैक्डोनल और कीथ ने लिखा है कि अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि खेतों के लिये मवेशियों की खाद क महत्त्व समझ लिया गया था।[80]

अथर्ववेदसंहिता के एक मन्त्र[81] की व्याख्या करते हुए सातवलेकर ने उत्तम मधुर रसयुक्त धान्य और फल की उपज के लिये भूमि को घी और शहद द्वारा योग्य रीति से सींचने का अर्थ ग्रहण किया है। वैदिक कृषि में खाद के रूप में घी और शहद के प्रयोग का उल्लेख भी किया गया है।[82]

कृषि के लिये सिंचाई

भारतवर्ष में आज भी उत्तम वर्षा उत्तम कृषि का आधार मानी जाती है। अथर्ववैदिक कृषि तो परजन्य प्रधान थी ही। मन्त्रों में सिंचाई के लिये प्राकृतिक वर्षा की सर्वातिशायी महत्ता मानी गयी है। सांकेतिक रूप में स्वीकार किया गया है कि पृथिवी पर वृष्टि से ओषधियाँ वनस्पतियाँ बढ़ती हैं।[83] मेघ जल से खेतों को सींचने का उल्लेख अन्यत्र भी है।[84] ऋषि की स्पष्ट प्रार्थना है कि शब्दायमान् मेघजल पृथिवी को तृप्त करें[85], वर्षा की झड़ियाँ पृथिवी को महत्ता प्रदान करें, जिससे विविध रूपों वाली अनेक ओषधियाँ उत्पन्न हों; [86] और बरसते मेघ की झड़ियाँ पृथिवी को अभिलक्ष्य करके ही बरसें।[87] अतः वृष्टि सूक्त (4.15) में वर्षा की कामना का प्रधान प्रयोजन पृथिवी

का तर्पण और सिञ्चन ही माना गया है। इसीलिये भूमि को 'माता' मानने वाले अथर्ववैदिक आर्यों ने 'पर्जन्य' को पिता कहा है,[88] क्योंकि भूमि उससे ही सिञ्चित और पुष्ट होती है। ये वृष्टि के देव हैं।[89] पर्जन्य से प्रार्थना है कि वे भूमि को जल से अभिसिञ्चित करें।[90] पर्जन्य देव ही मेघों का समुद्र से आह्वान करते हैं, भूमि को जल से अभिसिञ्चित करते हैं, अन्तरिक्ष को विद्युत् से युक्त करते हैं, जल बरसाकर व्रीहि-यवादि के उत्पादन द्वारा यज्ञ का विस्तार करते हैं और सर्वत्र ओषधियों को आनन्ददायिनी करते हैं।[91] वर्षा के देव मरुद्गण हैं, जिनके द्वारा प्रच्यावित मेघ पृथिवी को उद्देश्य करके बरसते हैं।[92] इसलिये समर्थ और दानशील मरुत् वृष्टि का दर्शन कराने के लिये प्रार्थनीय है।[93] अन्यत्र उनसे मेघों को बरसने के लिये प्रेरित करने की प्रार्थना भी है।[94] वृष्टि जलों को बरसाने के लिये वरुणदेव का आवाहन भी किया गया है।[95] वर्षा से साक्षात् सम्बद्ध देवता इन्द्र की स्तुति तो कितने ही सूक्तों में है। अथर्ववेदसंहिता में उत्तम वृष्टि के निमित्त प्रार्थनायें (7.18) और उसका वर्णन (6.22) भी प्राप्त है।

नियमित वर्षा-प्राप्ति की आवश्यकता की द्योतक है - वैदिक इन्द्र-वृत्र-युद्ध की कथा; जिसमें जल-निरोधक वृत्र इन्द्र के द्वारा मारा जाता है। वृष्टि के उपयोगिता के साथ अनावृष्टि की हानियों से ही परिचित होने के कारण एक मन्त्र में कहा गया है कि 'मित्र-वरुण के द्वारा बरसने वाले जल ब्राह्मणघाती के क्षेत्राधि पर नहीं बरसता है'।[96] दुष्ट या अमित्र के लिये अवर्षण की कामना के मूल में यह तथ्य व्यञ्जित होता है कि जल प्रवाह-विमोचन खेत के लिये अति हानिकारक है।

जल-प्राप्ति के कई प्राकृतिक स्त्रोतों का उल्लेख अथर्वसंहिता में प्राप्त है; जिनमें नदियों का विशेष स्थान है। दिव्य जलों के अतिरिक्त स्त्रोतों से प्राप्त जलों का स्पष्ट निर्देश 'आपःसूक्त' में किया गया है।[97] नदनशील नदियों के साथ मिलकर बहने वाले अक्षय स्त्रोतों से धन इकट्ठा करने की कामना[98] द्वारा अप्रत्यक्षतः कृषि के लिये उनसे लाभ उठाने का भाव ग्रहणीय है। सायण ने भी यहाँ नदियों के अविच्छिन्न प्रवाहों से शस्य की अभिवृद्धि द्वारा अभिलषित धन-प्राप्ति का तात्पर्य लिया है।[99]

नदियाँ अनेक थीं, किन्तु मुख्यरूप से सप्त नदियों का उल्लेख है।[100] नदियों पर दृढ बाँधों के अभाव में कृषि को प्राकृतिक चुनौतियों का सामना भी करना पड़ता होगा, इसलिये एक मन्त्र में संकेत प्राप्त हैं कि वृष्टि द्वारा बरसे हुए जल को नदियाँ अति-वेग से बहाकर ले जाती है।[101]

विविध जल और जल प्रवाहों का वर्णन करते हुए मन्त्रों में कहा गया है कि हिमवान् पर्वत से आने वाले जल प्रवाह, स्रोतों में बहने वाले जल प्रवाह, वेग से जाने वाले जल प्रवाह, वर्षा से आये जल प्रवाह, मरुदेश में होने वाले जल प्रवाह, जलसमृद्ध देश में बहने वाले जल प्रवाह, खोदकर प्राप्त किये गये जल और घड़ों में भरकर रखा गया जल सुखकार हो।[102] वर्षा के अभाव में खेत की सिंचाई और जलप्राप्ति के लिये प्रयोग में लाये जाने वाले कुछ कृत्रिम साधनों का संकेत भी यहाँ प्राप्त है। 'खनित्रमा' अर्थात् खोदकर निकाले गये (पानी) का उल्लेख उक्त मन्त्र के अतिरिक्त अथर्वसंहिता में दो बार और भी है।[103] इसे कुओं का वाचक माना जा सकता है और नहरों का भी। कीथ और मैक्डोनल ने इसे सिंचाई के लिये प्रयोग में आने वाले पानी की कृत्रिम नहरों का द्योतक माना है,[104] तो सायण ने खुदायी द्वारा उत्पन्न कूप-तटाकादि स्थित जलों का।[105] निश्चिय ही कुछ समय 'कूप' थे।[106] सम्भवतः कूप से ऊपर पानी 'कुम्भ' द्वारा ही खींचा जाता था और पानी भरकर लाने के लिये कुम्भ का ही प्रयोग किया जाता था।[107] निघण्टु (3.23.7) में 'अवतः' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसे प्रदत्त 'खात' अर्थात् 'खोदकर बनाये गये' विशेषण[108] से उसके निर्माण में खनन-प्रक्रिया का बोध होता है।

कृषि की समृद्धि और सुरक्षा

प्रायः प्राकृतिक कारणों से कृषि क्षतिग्रस्त भी हो जाती है। अथर्ववैदिक ऋषियों ने कृषि की समृद्धि और शस्य की सुरक्षा के लिये एक सम्पूर्ण सूक्त (3.24) में प्रार्थना की है कि हमारा धान्यादि शस्य सहस्रधार होकर सुरक्षित रहें।[109] एक अन्य सूक्त (6.142) का विषय भी 'अन्न-समृद्धि' है, जिसमें यवधान्य से कहा गया है कि 'तुम भली-भाँति ऊँचे उठो। अपने तेज से अत्यधिक हो। समस्त अनाज भरने के बर्तनों को भर दो'।[110] 'तुम द्यौ के सदृश ऊँचे उठो और समुद्र के समान अक्षीण बढ़ो'।[111] तुम्हारी राशियाँ क्षयरहित होवें।[112]

दिव्य विद्युत से प्रार्थना है कि वह 'यव' नष्ट न करें।[113] असमय में वृष्टि (या अतिवृष्टि) और अनावृष्टि दोनों ही कृषि के लिये हानिकारक हैं। एक मन्त्र में शौनक ऋषि ने पर्जन्य देव से प्रार्थना की है कि वे न तो विद्युत् के द्वारा शस्य को नष्ट करें और न ही सूर्य की रश्मियों द्वारा खेत में खड़े अनाज को सुखा ड़ाले।[114]

कृषि की क्षति के विशेष कारण कई जीव-जन्तु भी होते है। एक सम्पूर्ण सूक्त धान्य की सुरक्षा के उद्देश्य से कौशिकसूत्र में मूषक, शलभ, पतंग, टिट्टिभ, कीट, हरिण आदि शस्यविनाशक और शस्यभक्षक जीवों की निवृत्ति के उपचार में प्रयुक्त बतलाया गया है।[115] सूक्त में अश्विन् द्वय से प्रार्थना है कि वे हिंसक चूहों को मारें, जिससे वे यवादि अन्न न खा पायें।[116] फिर हिंसक शलभ कीटों से निवेदन है कि वे जौ को न खायें और उन्हें नष्ट न करते हुए छोड़ दें।[117] अन्यत्र मरुद्गण से सामान्य रूप से अन्न की रक्षा करने की प्रार्थना भी प्राप्त है।[118]

कृषि-कर्म की प्रक्रिया

अथर्ववेदीय कृषिसूक्त से वैदिक कृषि-विद्या के स्वरूप पर किञ्चित् प्रकाश पड़ता है। प्रारम्भ में उत्तम कृषि के लिये 'शुनासीरा' (वायु और आदित्य) के लिये हवन करने का उल्लेख सातवें मन्त्र में है; क्योंकि सन्तुष्ट होने पर वे ही उत्तम फलवाली रसयुक्त ओषधियों या व्रीहि-यवादि को उत्पन्न करते हैं।[119] ऋक्संहिता में खेती का कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व 'क्षेत्रपति' देवता की स्तुति का वर्णन है।[120] प्रतीत होता है कि कृषि कार्य के प्रारम्भिक भाग में ही समृद्धि के लिये सुभगा हलरेखा (सीता) की वन्दना करते हुए देवों की पूजा की जाती थी।[121]

सूक्त में प्राप्त विवरण के अनुसार कृषि कर्म में प्रवृत्त किसान भूमि की जुताई के लिये हलों को जोड़ते और फिर जुओं को अलग-अलग बैलों के कन्धों पर रखते हैं।[122] तदनन्तर वे अङ्कुरोत्पत्ति-योग्य कृष्टक्षेत्र (इह) में (व्रीहियवादि के) बीज बोते हैं;[123] और आशा करते हैं कि अन्न की उपज हमारे लिये भरपूर हो।[124] भूमि-सूक्त में भी भूमि से प्रार्थना है कि उस पर जो बोया जाये, वह शीघ्र उगे।[125] भूमि एक बार ही नहीं, सर्वकाल में फलवती हो, इस स्पृहा से लाङ्गलपद्धति से कामना की गयी है कि वह उदकवती होकर आने वाले वर्षों तक अधिकाधिक अन्न उत्पन्न करती रहें।[126] निश्चय की मधुर उदक से सिंचित, जुती भूमि ही अन्नोत्पादन में समर्थ होती है।

खेतों में उत्पन्न उत्तम फसल शीघ्र पक जाती है। मन्त्र में प्रार्थना है कि पके हुए अन्न को शीघ्र ही हँसिया (सृणि) से काट लें।[127] सायण ने इसे लवनसाधन अंकुश बताया है।[128] ऋक्संहिता में खेतों में पकी फसल काटने के लिये 'सृणि'[129] और 'दात्र'[130] का उल्लेख हुआ है।

अनाज को काटने के बाद उसे बाँधकर सफाई करने के लिये खलिहान में रखा जाता था। अथर्ववेदीय 'समृद्धि-प्राप्ति' सूक्त में इसका संकेत ग्राह्य है, जहाँ प्रजापति से प्रार्थना है[131] कि वे शतहस्त होकर धान्यादि को लायें और सहस्त्रहस्त होकर उसे प्रदान करें तथा सम्पादित एवं सम्पाद्यमान धान्य की अभिवृद्धि करें। प्रजापति के तो दो ही अभिमत कार्य-सम्पादक (क्षत्तारौ) कहे गये हैं - धान्यादि को समीप वहन करने वाला (उपोहः) और उसे सम्यक् बढ़ाने वाला अर्थात् राशिरूप करने वाला (समूहः)।[132] अन्न से भूसे को अलग करने के लिये सूप (शूर्प) के प्रयोग का संकेत उपलब्ध होता है।[133] एक अन्य मन्त्र के आधार पर कहा जा सकता है कि सम्भवतः साफ हुए अन्न का विभाजन किया जाता था।[134] अनन्तर शेष अन्न ही कृषक का अपना होता था।

कृषिलभ्य अन्न

वेद के अनुसार पयस्वान् देव (इन्द्र या पर्जन्य) अपरिमित धान्य उत्पन्न करते हैं।[135] अथर्ववैदिक आर्य अनेक प्रकार के अन्न से परिचित थे। मन्त्रों में अन्न की विविधता का उल्लेख होता है।[136] एक सम्पूर्ण सूक्त में 'यव' की स्तुति है,[137] जिसे अन्न समृद्धि की समान्य कामना के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है। एक सूक्त का विषय विराड् अन्न और देवता 'ओदनः' है,[138] जिसमें आलंकारिक भाषा में अन्न का महत्त्व वर्णन ही किया गया है। अन्न को स्वर्गलोक या सूर्यमण्डल बताया गया है।[139] अन्न में व्रीहि और यव का विशेष महत्त्व था, तभी उन्हें क्रमशः अपान और प्राण से समीकृत किया गया है।[140] भूमिसूक्त से भूमि पर उपजने वाले अन्न का सामान्य उल्लेख और व्रीहि-यव का नामतः उल्लेख उनकी अधिक उपज का संकेत करता है।[141] प्रार्थना है कि व्रीहि-यव अन्न खाने के बाद मधुर, सुखकारी और बल प्रदान करने वाले हों।[142]

अथर्ववैदिक आर्यों के विशेष भोज्यान्न धान्य, व्रीहि और यव थे और वे इनकी ही प्रधानतः नियमपूर्वक खेती करते थे। ऋक्संहिता में यव[143] और धान्य[144] का बार-बार उल्लेख है। दर्शनीय है कि 'व्रीहि' का उल्लेख अथर्ववेद

संहिता में तो है किन्तु ऋक्संहिता में नहीं।[145] कुछ अन्य अन्नों का उल्लेख भी अथर्वसंहिता में हुआ है जैसे कि माष (उड़द) और तिल।[146] एक मन्त्र से श्यामाक (सांवा) की उपज का संकेत ग्राह्य है।[147] प्रतीत होता है कि अथर्ववैदिक आर्य अनाज के अतिरिक्त ईख 'इक्षु' का उल्लेख हुआ है।[148] इसके अतिरिक्त विविध ओषधियाँ और वनस्पतियाँ उनके संरक्षण में उत्पन्न होती थी, कृषि में साक्षात् सम्बद्ध न होने के कारण उनका अध्ययन यहाँ अप्रासंगिक है। कहा जा सकता है कि अथर्ववैदिक आर्यों ने अपनी जीविका के प्रधान साधन के रूप में कृषि और उससे सम्बद्ध कई पक्षों का पर्याप्त विकास किया था।

सन्दर्भ-संकेत

1. रामशरण शर्मा, *प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ*, दि मैकमिलन कम्पनी, 1977, पृ. 273.
2. एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि। एषां क्षत्रमजरमस्तु। अथर्व. 3.19.5;
   राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्। अथर्व. 6.88.2;12.2.
3. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व। ऋ. 10.34.13.
4. ते कृषिं च शस्यं च मनुष्याऽउपजीवन्ति। अथर्व. 8.10.4.12.
5. कृषिं संशितोऽन्नतेजाः।
   कृषिमनु विक्रमेऽहं कृष्यास्तं निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि। अथर्व. 10.5.34.
6. कृषिसूक्त-अथर्व. 3.17.
7. अथर्व. 3.1.7-8.
8. नो राजा नि कृषिं तनोतु। अथर्व. 3.12.4.
9. वृको लाङ्गलं भवति विकर्तनात्। नि. 6.26.
10. यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा। ऋ. 1.117.21;

दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः। ऋ. 8.22.6.

11. तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक्। अथर्व. 8.10.6.11.

12. श्रीमद्भागवद्पुराण स्कन्ध 4, अध्याय 16.23.

13. देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्। अथर्व. 12.1.7.

14. देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः। अथर्व. 6.30.1.

15. जुषस्व न सख्या वेश्या च मा त्वत्क्षेत्राण्यरणानि गन्म। ऋ. 6.61.14 के आधार पर राहुल सांकृत्यायन, *ऋग्वैदिक आर्य,* किताब महल, इलाहाबाद, 1975, पृ. 45.

16. यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः। अथर्व. 12.1.3,4.

17. बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्। अथर्व. 12.1.11.

18. सातवलेकर, *अथर्ववेद का सुबोध भाष्य,* पारडी, 1958, भाग-4, काण्ड-12, पृ. 11.

19. यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु। अथर्व. 12.1.2.

20. क्षेत्रमिव वि ममुस्तेजनेन। ऋ. 1.110.5.

21. शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः। अथर्व. 12.1.16.

22. विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी। अथर्व. 12.1.6.

23. निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे। अथर्व. 12.1.44.

24. विश्वस्वं मातरमोषधीनाम्। अथर्व. 12.1.17.

25. नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति। अथर्व. 12.1.2.

26. यस्यान्नं व्रीहियवौ यस्यां इमाः पञ्च कृष्टयः। भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै। अथर्व. 12.1.42.

27. यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।

सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा।। अथर्व. 12.1.9.

28. प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः। अथर्व. 7.18.2.

29. यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति। अथर्व. 10.6.33.

30. यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु। अथर्व. 12.1.35.

31. शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः। ऋ. 4.57.8.

32. बह्वन्नामकृषीवलीम्। ऋ. 10.164.6.

33. शुनं वाहाः शुनं नरः। अथर्व. 3.17.6.

34. इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः। अथर्व. 6.30.1.

35. W.D. Whitney, *The Atharvaveda Samhita*, Motilal Banarsidas, 1962, Vol. I, p. 302.

36. श्रमेणानड्वान् कीलालं कीनाशश्चाभिगच्छतः। अथर्व. 4.11.10.

37. शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान्। अथर्व. 3.17.5.

38. सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नयौ।। अथर्व. 3.17.1.

39. यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया। अथर्व. 6.116.1.

40. ऋ. 4.57.

41. ऋ. 10.101.3,4; अथर्व. 3.17.1,2.

42. ऋ. 4.57.4; अथर्व. 2.8.4.

43. षड्योगं सीरमनु। अथर्व. 8.9.16.

44. सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्। अथर्व. 3.17.1;

युनक्त सीरा वि युगा तनोत। अथर्व. 3.17.2.

45. शुनं वरत्रा बध्यन्ताम्। अथर्व. 3.17.6.

46. सातवलेकर, *अथर्ववेद का सुबोध भाष्य*, 1958, भाग-1, काण्ड-3, पृ. 75.

47. W.D. Whitney, *The Atharvaveda Samhita*, Vol. I, p. 115.

48. लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु। अथर्व. 3.17.3.

49. शुनं कृषतु लाङ्गलम्। अथर्व. 3.17.6.

50. शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्। अथर्व. 3.17.7; ऋ. 4.57.5,8.

51. शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै। अथर्व. 3.17.5.

52. शुनो वायुः सीर आदित्यः। नि. 9.40.

53. ऋ.सं.भा. 3.17.5; तुलनीय - शुनाख्यो वाय्विन्द्रयोरन्यतमः सुखकृद्देवः। ऋ.सं.भा. 4.57.4; शुन इन्द्रः सीरो वायुः। ऋ.सं.भा. 4.57.5.

54. ऋ. 4.57.6,7.

55. अथर्व. 3.17.4.

56. सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव।

यथा नः सुमना असो यथा न सुफला भुवः।। अथर्व. 3.17.8.

57. सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्व। अथर्व. 3.17.9.

58. सुफालाः शोभनानि लाङ्गलमुखानि। अथर्व.सं.सा.भा. 3.17.5.

59. शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिम्। अथर्व. 3.17.5.

60. यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणि फालं घृतश्च्युतमुग्रं खदिरमोजसे। अथर्व. 10.6.6.

61. तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः। अथर्व. 10.6.12.

62. यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति। अथर्व. 10.6.33.

63. M. Bloomfield, *Hymns of the Atharvaveda*, (S.B.E. 42), 1967, p. 609.

64. W.D. Whitney, *The Atharvaveda Samhita*, Vol. I, p. 115.

65. सातवलेकर, *अथर्ववेद का सुबोध भाष्य*, भाग-1, खण्ड-3, पृ. 75.

66. राहुल सांकृत्यायन, *ऋग्वैदिक आर्य*, 1957, पृ. 46.

67. राजछत्र मिश्र, *अथर्ववेद में सांस्कृतिक तत्त्व*, इलाहाबाद, 1968, पृ. 142.

68. शुनमष्ट्रामुदिङ्गय। अथर्व. 3.17.6.

69. अष्ट्रामिति वैश्यस्य। कौ.सू. 80.50.

70. शुनं वाहाः शुन नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। अथर्व. 3.17.6.

71. अथर्व. 3.17.1.

72. अथर्व. 3.17.5.

73. अथर्व. 4.11.

74. इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः। अथर्व. 6.91.1.

75. तै.सं. 1.8.7.1.

76. गोभिर्यवं न चर्कृषत्। ऋ. 1.23.15.

77. संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः। अथर्व. 3.14.3 (सायण-करीषिणीः। करीषं शकृत्। भूम्नि मत्वर्थीय इनिः। चिरकालजीवनेन प्रभूतकरीषयुक्ता इत्यर्थः।) तुलनीय-अथर्व. 19.31.3.

78. W.D. Whitney, *Atharvaveda Samhita*, Vol. I, p. 110.

79. यदस्याः पल्पूलनं शकृद् दासी समस्यति।
ततोऽपरूपं जायते तस्यादव्येष्यदेनसः।। अथर्व. 12.4.9.

80. Macdonell and Keith, *Vedic index of Names and subjects*, 1958, Vol. I, 139, Vol. II, p. 348

81. घृतेन सीता मधुना समक्ता। अथर्व. 3.17.9.

82. सातवलेकर, *अथर्ववेद का सुबोध भाष्य*, 1958, भाग-1, काण्ड-3, पृ. 76-77.

83. यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।

ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः।। अथर्व. 11.4.17; वृष्टिरिव वर्धया तृणम्। अथर्व. 6.5.4.1.

84. यद् दिवि चक्रुथः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम्। अथर्व. 3.17.7.

85. महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु। अथर्व. 4.15.1.

86. वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः। अथर्व. 4.15.2.

87. सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु। अथर्व. 4.15.4.

88. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्या। पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु। अथर्व. 12.1.12.

89. आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम्। अथर्व. 3.31.11.

90. भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्धि। अथर्व. 4.15.6.

91. महान्तं कोशमुदचाभि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः।

तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनीरोषधयो भवन्तु।। अथर्व. 4.15.16.

92. मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु। अथर्व. 4.15.9.

93. समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवः। अथर्व. 4.15.2.

94. उदप्रुतो मरुतस्तां इयर्त। अथर्व. 6.22.3.

95. श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव नीचीरपः सृज। अथर्व. 4.15.12.

96. न वर्ष मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति। अथर्व. 5.11.15.

97. अपामह दिव्यानामपां स्रोतस्यानाम्। अथर्व. 19.2.4.

98. ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सद्मक्षिताः।

तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि।। अथर्व. 1.15.3.

99. अविच्छिन्नैर्नदीनां प्रवाहैः सस्याद्यभिवृद्धिद्वारा अभिलषितं धनं प्राप्नुयामेत्यर्थः। अथर्व.सं.सा.भा. 1.15.3.

100. सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते। अथर्व. 7.57.2.

101. वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान्। अथर्व. 3.24.3.

102. शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूऽस्याः। शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः।। शं ते आपो धन्वन्याꣳ शं ते सन्त्वनूप्याः। शं ते खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः।। अथर्व. 19.2.1-2.

103. अथर्व. 1.6.4; 5.13.9.

104. Macdonell and Keith, *Vedic Index of Names and Subjects*, Vol. I, p. 214.

105. कूपोद्भवा आपः। अथर्व. 1.6.4; खननेन निर्वर्त्याः कूपतटाकादिस्था आपः। अथर्व. 19.2.2.

106. यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः। अथर्व. 5.31.8; तुलनीय - ऋ. 1.105.17.

107. ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम्। अथर्व. 10.8.14; तुलनीय अथर्व. 1.6.4, 3.12.8.

108. तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा। अथर्व. 20.55.3.

109. एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम्। अथर्व. 3.24.4.

110. उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव। गृणीहि विश्धा पात्राणि। अथर्व. 6.142.1.

111. तदुच्छ्रयस्व द्यौरिव समुद्र इवैध्यक्षितः। अथर्व. 6.142.2.

112. अक्षिताः सन्तु राशयः। अथर्व. 6.142.3.

113. मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत्। अथर्व. 6.142.1.

114. मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य। अथर्व. 7.11.1.

115. अथर्व. 6.50; कौ.सू. 51.17-22.

116. हतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः श्रृणीतम्।
यवात्रेद्दानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्याऽय।। अथर्व. 6.50.1.

117. तर्द है पतङ्ग है जभ्य हा उपक्स।

ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान् यवानहिंसन्तो अपोदित।। अथर्व. 6.50.1.

118. मरुतां मन्वे अधि मे ब्रवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु। अथर्व. 4.27.1.

119. अथर्व. 3.17.7.

120. ऋ. 4.57.1-3.

121. इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभिरक्षतु। अथर्व. 3.17.4;

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे। अथर्व. 3.17.8.

122. अथर्व. 3.17.1,2.

123. कृते योनौ वपतेह बीजम्। अथर्व. 3.17.2.

124. विराजः श्रुष्टिः सभरा असन्नः। अथर्व. 3.17.2.

125. अथर्व. 12.1.35.

126. सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्। अथर्व. 3.17.4.

127. नेदीय इत् सृण्यः पक्वमा यवन्। अथर्व. 3.17.2.

128. सृणिम् अङ्कुशं लवनसाधनं दात्रादिकम्। अथर्व.सं.सा.भा. 3.17.2.

129. ऋ. 10.101.3, 10.106.6; Macdonell and Keith, *Vedic Index of Names and Subjects*, Vol. I, p. 182.

130. ऋ. 8.78.10.

131. शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर। कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह।। अथर्व. 3.24.5.

132. उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते। अथर्व. 3.24.7.

133. वर्षवृद्धमुप यच्छ शूर्पं तुषं पलावानप तुषं पलावानप तद् विनक्तु। अथर्व. 12.3.19.

134. तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः।

तासां या स्फातिमत्तमा तथा त्वाभि मृशाममसि।। अथर्व. 3.24.6.

135. वेदांह पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु। अथर्व. 3.24.2.

136. यदन्नमद्मि बहुधा विरूपम्। अथर्व. 6.71.1.

137. अथर्व. 6.142.

138. अथर्व. 11.3.

139. एतद् वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः। अथर्व. 11.3.50.

140. प्राणापानौ व्रीहियवौ। यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते। अथर्व. 11.4.13.

141. यस्यामन्नं व्रीहियवौ। अथर्व. 12.1.42.

142. शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ। अथर्व. 8.2.18.

143. ऋ. 1.23.15, 1.117.21, 1.135.8, 5.85.3 इत्यादि।

144. ऋ. 5.5.13, 6.13.4, 10.94.13 इत्यादि।

145. शिवदत्त ज्ञानी, *वेदकालीन समाज,* चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1969, पृ. 230; घाटे द्वारा *ऋग्वेद पर व्याख्यान,* (अनुदित) दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1976, पृ. 139.

146. व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो भाषमथो तिलम्। अथर्व. 6.140.2.

147. श्यामाकं पक्वं पीलु च वारस्मा अकृणोर्बहु। अथर्व. 20.135.12.

148. परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे। अथर्व. 1.34.5.

How to cite this article: Tiwari, S. (2022). Vedon mein krishi-vigyan: Atharvaved-samhita ke vishesh sandarbh mein. *Vantage: Journal of Thematic Analysis*, *3*(1), 142-162 DOI: https://doi.org/10.52253/vjta.2022.v03i01.10

© The Author(s) 2022.
This work is licensed under a Creative Commons Attribution 4.0 International License which permits its use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is cited.